पूर्वमीमांसा सम्मत व्याख्याशास्त्र की अपेक्षा–उपेक्षा

डॉ. अनूपपति तिवारी
भारत अध्ययन केन्द्र,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश

व्यवहार में 'धर्म' शब्द कर्म का पर्याय है। कर्म दो प्रकार के हैं– सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म वह है जो मनुष्य मात्र के लिये हो। विशेष धर्म का पालन पात्रता तथा अधिकार एवं योग्यता को लेकर चलता है जैसे सुसंस्कृत एवं संयमित व्यक्ति ही यज्ञ सम्बन्धी कर्मानुष्ठान का अधिकारी है। इन धर्मों का मूल स्रोत वेद में पाया जाता है। इनका क्रमबद्ध विवेचन स्रौतसूत्र में पाया जाता है। जहां–जहां इनसे सम्बन्धित वाक्यार्थ में सन्देह होता है उसका निर्णय मीमांसाशास्त्र द्वारा किया जाता है। वाक्यार्थ निर्णय में मीमांसाशास्त्र द्वारा किया जाता है। वाक्यार्थ निर्णय में मीमांसाशास्त्र का उपयोग धर्म विचार को प्रमाणिक तथा जनसुलभ बनाता है।

चूंकि धर्म इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष नहीं है तो धर्म के बारे में ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं है। धर्म का मूल स्रोत वेद हैं। वैदिक मंत्रों में निहित धर्म तत्त्व को देशकाल के अनुसार व्याख्यापित करके जनोपयोगी बनाया जाता है। देशकाल सापेक्ष धर्म तत्त्व तथा देशकाल निरपेक्ष तत्त्व के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या मीमांसा द्वारा की जाती है। मीमांसा दर्शन न केवल वेदों के मलू प्रतिपाद्य को व्याख्यायित करता है बल्कि न्याय प्रणाली में कानून की शब्दावली, न्यायलयी प्रमाणों को पुष्ट करता है। जन धर्म वेदमूलक है तथा वेद यज्ञमूलक है तो वेदों में वर्णित यज्ञ के विनियोग तथा यज्ञविधि तय करने में मीमांसा का उपयोग होता है। मीमांसा दर्शन एक पद्धति (व्याख्यापद्धति) होने के कारण हिन्दू समाज विज्ञान तथा दण्डनीति में उपयोगी है।

मीमांसा–विद्वान् यज्ञ या पूजा के प्रसंग में वेदज्ञान समझा कर लोक–जागरण कर सकता है। गाँवों में, नगरों में यज्ञ–पूजा होते ही रहते हैं। अतः लोक–सम्पर्क का पूर्ण अवकाश है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड पूजा की वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर लोकजागरण के माध्यम से हिन्दू ज्ञानपरम्परा के अध्ययन में एक समर्थ माध्यम बन सकता है।मीमांसा द्वारा नियंत्रित यज्ञपरम्परा आधुनिक समाजवाद की तत्कालीन पवित्रता तथा परोपकार प्रवणता की ओर संकेत कर रही है। विधि यज्ञादि को निमित्त बनाकर नितिपूर्वक संग्रहीत धन का निःसंकोच भाव से तथा परहित में उदारता के साथ उपभोग की शिक्षा मीमांसा का प्रमुख उपलब्धी है। किसी भी धार्मिक सिद्धान्त के तीन पक्ष होते है– 1. पौराणिक भाग, 2. कर्मकाण्ड भाग, 3. दार्शनिक भाग। दार्शनिक भाग तथा कर्मकाण्ड भाग का सैद्धान्तिक परीक्षण एवं पुष्टिकरण एक दार्शनिक क्रिया द्वारा की जाती है। वेद सम्बन्धी धर्मों की विवेचना एवं उसके तार्किक स्थापना मीमांसा दर्शन द्वारा की जाती है। मीमांसा दर्शन वैदिक सिद्धान्तों के क्रियापरक आदेशों/निषेधों के वैचारिक धरातल प्रदान करता है। मीमांसा दर्शन ने अपनी व्याख्यापद्धति के द्वारा भारतीय धर्मविज्ञान, समाजविज्ञान तथा न्यायविज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला है।

मुख्य शब्द : काम्यकर्म, नैमित्तिक, उपासना, वैपरित्य

साहित्यावलोकन :

©Indira Gandhi National Open University

जिन पुस्तकों के आधार पर यह शोधपत्र लिखा गया हैं, वे इस प्रकार हैं–

- भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–1, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
- मीमांसा–दर्शन, आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री, मंडन मिश्र शास्त्री, रमेश बुक डिपो, जयपुर।
- मीमांसा–दर्शन–विमर्श, सोमनाथ नेने, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली।
- धर्मशास्त्र की इतिहास, भाग–5, डॉ. पी.वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- Purvamimamsa from an Interdisciplinary Point of View, Edited by K.T. Pandurangi, History of Indian Science, Philosophy and Culture, New Delhi.

शोधपत्र का उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य भारत के उस व्याख्यापद्धति के महत्त्व को उजागर करना है, जिसके आधार पर भारत की विधिक, धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो भारतीय व्याख्यापद्धति का उपयोग विशेषकर विधिक मामलों में अठ्ठरहवीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में उपयोग होता रहा है। यहां तक कि यूरोपीय विधिक व्याख्याकार, न्यायविदों ने भी इनका प्रयोग किया है किन्तु वे संस्कृत के अल्पज्ञान तथा सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के प्रभाव में इस तथ्य को स्वीकारते हुए नही दिखते। प्रस्तुत शोधपत्र में व्याख्याद्धति के रूप में मीमांसादर्शन के महत्त्व और उसकी अपेक्षा तथा उपेक्षा पर चर्चा किया गया है। इस शोधपत्र में इस बात की अन्वेक्षा की गयी है कि भारत में व्याख्याशास्त्र का विशेषकर विधिक व्याख्याशास्त्र का क्या स्वरूप था तथा क्या हम उनसे प्रेरणा लेकर कुछ नये ज्ञान का सृजन कर सकते हैं?

प्रस्तावना

मीमांसा दर्शन जिसे पूर्वमीमांसा भी कहा जाता है, एक अतिप्राचीन वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय है। यह परम्परा नैतिक तर्क, धर्म को लागू करने तथा न्याय की व्याख्या करने के लिये एक समर्थ दार्शनिक ढांचा प्रदान करता है। वाक्यसन्दर्भों का विश्लेषण, धर्म के पालन की व्यवहारिकता को महत्वपूर्ण मानते हुए मीमांसा में एक सशक्त और सूक्ष्म व्याख्यापद्धति का विकास किया, जोकि वैधानिक सिद्धान्त तथा धार्मिक कर्त्तव्यों के निर्धारण में आज भी प्रयुक्त होता है। इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि जैमिनि है, जिन्होंने जैमिनिसूत्र या मीमांसासूत्र लिखा। यह वैदिक नियमों अनुष्ठानों और उनके दार्शनिक आधारों की समझ के लिये एक व्यापक मार्गदर्शिका के रूप में प्रयुक्त होता है। मीमांसा में धर्म नैतिक कर्त्तव्य और सामाजिक दायित्व पर अवलम्बित है।

मीमांसा दर्शन का अर्थ एवं स्वरूप

मीमांसा शब्द का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना की वेद। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद आदि में मीमांसा शब्द बार बार आया है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पूजार्थक 'मान' धातु से 'सन' प्रत्यय कर, स्त्रीलिंगबोधक 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' प्रत्यय के जोड़ने से मीमांसा शब्द बनता हैं, जिसका अर्थ है 'विचार'। मीमांसा दर्शन की अनेक संज्ञाएं हमे प्राप्त होती है। कहीं कहीं मीमांसा के लिये तन्त्र शब्द, कहीं विचारशास्त्र, कहीं न्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। मीमांसा के साथ पूर्वउपपद जोड़ने से

©Indira Gandhi National Open University

पूर्वमीमांसा कहा जाता है। जैमिनि द्वारा प्रतिपादित मीमांसा को पूर्वमीमासा तथा बादरायण द्वारा प्रतिपादित वेदान्तसूत्र को उत्तरमीमांसा कहा जाता है

उपनिषदों में बहुत पहले मीमांसा शब्द का अर्थ था– किसी सन्देहात्मक बात के विषय में विचार–विमर्श करने या खोजबीन करने के तथा किसी निर्णय पर पहुंच जाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मध्यकाल के पश्चात कालीन लेखकों ने मीमांसाशास्त्र को विद्यास्थानों में (वेद के अतिरिक्त) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा है क्योंकि यह अन्य वैदिक वचनों के अर्थ उत्पन्न सन्देहो, भ्रामक धारणाओं एवं अबोधता को दूर करता है तथा अन्य विद्यास्थानों को अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती है।

डॉ0 राधाकृष्णन लिखते है कि इस दर्शन का नाम पूर्वमीमांसा इसलिये हुआ क्योंकि यह उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है, ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि तार्किक अर्थों में। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसे कि उत्तरमीमांसा का मुख्य विषय वस्तुओं का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदों को छोड़कर, शेष समग्र वेद के विषय में यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करता है, जिनमें मुख्य हैं यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शंकराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते हैं, इस विषय में सहमत हैं कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म में किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म में, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिये इच्छा उत्पन्न करता है।[1]

पूजित विचार को मीमांसा कहा जाता है। वह दर्शन जिनमें पूजित विचारों का वर्णन हो मीमांसा दर्शन है। इस दर्शन के प्रतिपादक ऋषि जैमिनी है जिन्होंने मीमांसासूत्र लिखा। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में रचित है, जिसमें धर्म के विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यह दर्शन मुख्य रूप से धर्म के प्रतिपादन से सम्बन्धित है। मीमांसा दर्शन के पूर्व वेद का अध्ययन अपेक्षित है। जिसने वेद, वेदाङ्ग आदि का अध्ययन किया है, वही इस दर्शन का अधिकारी है। मीमांसकों का मत है कि धर्म वेद से ही ज्ञेय है, अन्य साधन (इन्द्रिय तथा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से नहीं। आप जानते हैं कि वेद के तीन काण्ड हैं– कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। वेद भाग के कर्मकाण्ड का विचार मीमांसा में किया जाता है। इसलिये इस दर्शन को यज्ञविद्या भी कहा जाता है।[2]

जिस प्रकार अच्छी दृष्टि रहने पर भी बिना प्रकाश के कुछ नहीं जाना जा सकता है, उसी प्रकार बिना पूर्वमीमांसा की विधियों को जाने व्यक्ति धर्म की सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।वेद (शब्द) के अतिरिक्त धर्म के विषय में ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं है। धर्म का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। वह इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष नहीं है।

विधि व्याख्या में मीमांसा का महत्त्व

विष्णुपुराण में धर्म के चौदह विद्यास्थानों में मीमांसा का भी नाम लिया गया है।

[1] भारतीय दर्शन, भाग–द्वितीय, राजपाल एण्ड सन्स, 2016, पृ0–321

[2] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–प्रथम, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, पृ0–376

©Indira Gandhi National Open University

अंगानि वेदश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या एताश्चतुर्दश।।

–विष्णुपुराण 3/6/26

प्राचीन भारतीय समाज में धर्म के नियम वेद, स्मृति और धर्म से जुड़े हए हैं। वेद धर्म का मूल स्रोत है। वेद के अधिकतर नियम और विधान धार्मिक क्रियाकलाप तथा यज्ञ के लिए है। वेद के विधान एक कठिन भाषा है। मीमांसा धर्मशास्त्र के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण शाखा है। मीमांसक वे वैदिक विद्वान् है, जो भाषा और व्याकरण के ज्ञाता थे। इस सन्दर्भ में कोलब्रूक का कथन हैं–

The logic of the Mimansa is the logic of the law- the rule of interpretation of civil and religious ordinances. Each case is examined and detrmined upon general priciples; and from the cases decided, the principles may be collected. A well ordered arrangement of them would constitute the philosophy of the law, and this is, in truth, what has been attempted in the Mimansa.[3]

किन्तु अंग्रेजी न्यायाधिसो द्वारा मीमांसा व्याख्यपद्धति की चर्चा अपने सुनवाई में नहीं किया क्योंकि वे मीमांसा व्याख्यापद्धति संस्कृत में लिखी हुई थी। इस सन्दर्भ में सर जॉन एड्ज ने मीमांसा की व्याख्यापद्धति द्वारा हिन्दू कानून की व्याख्या के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि–

That rule for the construction of sacred texts and law of Hindu do exist cannot be disputed, although those rules have been frequently overlooked or not referred to by Judges or English text writers probably because they are in Sanskrit and have, so far as I am aware, not yet translated.[4]

जैसा कि अभी आपने मीमांसा का महत्व विधि के अंग के रूप में आपने देखा भारत की विधिक इतिहास मीमांसा के व्याख्यापद्धति के बिना अधूरा है। प्रो. गंगानाथ झा ने सावरभाष्य के अंग्रजी अनुवाद में लिखते हैं कि–

Unfortunately, for modern Hindus, the examples that Jaimini chose for illustrating his rule of interpretation were all from sacrificial rituals. Naturally, during this time, every Brahamna was all from sacrificial rituals. Naturally, during his time, every Brahmana was familiar with these rituals, and hence they were regarded as providing most suitable illustrative examples. Latterly, however, sacrificial ritual has gradually all but disappeared from the life of the Hindus; and this has led to the neglect of the study of the Mimansa shastra. Even os, it continues to be recognized that the rules that Jaimini

[3] By M. Raja Jois, The Mimansa Rules of Interpretation, Purvamimamsa from an Interdisciplinary Point of View, Edited by K.T. Pandurangi, History of Indian Science, Philosophy and Culture, New Delhi, P, 576

[4] Ibid, 577

©Indira Gandhi National Open University

evolved are still found useful in the interpretation of law texts, and they have been so widely used that there is no important legal digest which does not draw upon the Nyayas of Jamini.[5]

इस प्रकार मीमांसा को श्रुतियों तथा स्मृतियों में निहित ज्ञान प्राप्त करने में आवश्यक माना गया। याज्ञवल्क्यस्मृति में न्यायाधीश की नियुक्ति की योग्यता में मीमांसा का ज्ञान आवश्यक माना है। इस प्रकार हमने देखा की कानून की व्याख्या जोकि विधिशास्त्र की एक प्रमुख शाखा है, मीमांसा के व्याख्यासिद्धान्त के बिना पूर्ण नही होती। यह व्याख्यासिद्धान्त कानूनी विधान को समझने में सहायक है क्योंकि जब हम किसी कानूनी प्राविधान को लागू करने जाते हैं तो हमारे समक्ष कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

1. किसी विशेष कानून में प्रयुक्त किसी विशेष शब्द का वास्तविक अर्थ क्या मानना चाहिए ज बवह शब्द कानून में परिभाषित न हो और जब उसका एक सामान्य अर्थ भी उस प्रकार का हो जिस प्रकार का तकनीकी अर्थ होना आवश्यक है।
2. जब किसी कारण कोई वाक्य स्पष्ट न हो तो इसका अर्थ किस प्रकार निगमित करेंगे।
3. यदि किसी कानून का दो प्राविधान आपस में विरोधी हो तो उनकी व्याख्या के लिये किस विधि का उपयोग करना चाहिए।
4. जब कोई विशेष कानून किसी निश्चित कर्म किसी विशेष दशा में प्रयुक्त है तो वह अनिवार्य है या ऐच्छिक?

ये समस्याएं प्रतिदिन न्यायालय में उपस्थित होते हैं जब दो पक्ष एक दूसरे को मात देने के लिए दिये गये कानून की व्याख्या अपने अपने पक्ष करते हैं।

वेदव्याख्या में मीमांसा का महत्त्व

धर्म अधर्म के ज्ञान के लिये शब्दप्रमाण ही मुख्य आधार है। शब्द प्रमाण के रूप में वेदमंत्रों के अर्थ में जहां संदेह है, उनको ठीक प्रकार से समझने के लिये मीमांसा दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। वेदों की व्याख्या करते हुए मीमांसा दर्शन में वेदों को मंत्रों और ब्राह्मणों का संकलन कहा है। ब्राह्मण ग्रन्थ विधि (वैदिक आदेश) है। ये आदेश तीन प्रकार के हैं– 1. अपूर्व विधि, 2. नियम विधि, 3. परिसंख्या विधि। अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है, जिनका हमें कोई पूर्वज्ञान नहीं है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिये जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतों को धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पों में एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिये धान का छिलका कई विधियों में उतारा जा सकता है, यहां तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम–विधि में जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते है पर हम उसे कई विकल्पों में से एक के रूप में जानते हैं। अतः नियम–विधि उनमें से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नहीं था और यदि यह आदेश ही नहीं मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नहीं होती। परिसंख्या–विधि वह विधि है, जो अनेक क्रियाओं में की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है पर जो निश्चित प्रसंग में ही करना

[5] Ibid, 577

©Indira Gandhi National Open University

उचित है। उदाहरण के लिये मैं रास (लगाम) को ग्रहरण करता हूँ (इमाम् अगृभ्णाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मंत्र में किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकड़ने का उल्लेख होता है पर परिसंख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकड़ना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकड़ते हुए इस मंत्र का पढ़ना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र–वाक्यों की व्याखा करने के तीन मुख्य सिद्धान्त है– 1. जब वैदिक मंत्रों के शब्द ऐसे हों कि उनकी एक साथ पढ़कर ही पूर्ण अर्थकी प्राप्ति होती है तो उसको एकसाथ पढ़ना और अर्थ करना उचित होता है। 2. यदि अलग–अलग अर्थवाक्यों का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिये संयुक्त करना उचित नहीं है, यह दूसरा सिद्धान्त है। 3. उन वाक्यों को जो स्वयं में पूर्ण नहीं है, या आधे वाक्य है, उनके लिये पूर्व वाले वाक्य से प्रसंगानुसार पूरक शब्दों को व्यवहार में लाकर अर्थ करना चाहिए।

वैदिक विधि–विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत–शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म में अथवा कर्त्ता में सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' कहते है। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यों का संचय होता है। **–(डॉ0 गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और माधव–रचित न्यायमाला विस्तार)**

धर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि से परमलाभ प्राप्त होता है। ये बाते वेद, स्मृति, पुराण आदि अनेक धर्म ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। जब प्रश्न उठता है कि धर्म का लक्षण क्या है? तो इसका समाधान हमें मीमांसा दर्शन से प्राप्त होता है। मीमांसा दर्शन मुख्यतः वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों को मानकर चलता है और ज्ञान के सिद्धान्त में मीमांसा दर्शन का मत न्यायवैशेषिक से पृथक् है। मीमांसा का मत है कि– 'वेद स्वतः प्रमाण है, इनके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेदों की प्रामाणिकता के लिये परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सारा ही ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है। धर्म का प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सके। वेद–विहित ढंग से उसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मकाण्ड आदि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

जैमिनि सूत्र पर शबरस्वामी (200 ई0) ने प्रसन्न गम्भीर भाष्य लिखा, जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। इसी शाबरभाष्य के भाष्कारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर प्रमुख है। कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य पर अपना वार्तिक लिखा, जिसके तीन भाग– श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका है तथा प्रभाकर ने बृहती तथा लध्वी नामक दो भाष्य लिखा। कालान्तर में मीमांसा के इन दोनों सम्प्रदाय के अन्तर्गत कई प्रतिष्ठित आचार्य हुए जिन्होंने इस दर्शन प्रणाली को समृद्ध किया।

यह धर्म लोक की सामान्य रूचि का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप धार्मिक बनने का प्रयत्न करता है और इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के शास्त्रकारों ने अपनी सफलता के लिये अनिवार्य रूप से इसका विवेचन किया है। कहीं यह धर्म कर्तव्य का अभिप्राय लेकर आता है– तो कहीं शिष्टाचार का। कहीं इसे भिन्न–भिन्न यज्ञ, अध्ययन–दान आदि क्रियाओं में विभाजित कर दिया गया है।

मीमांसकों के मत में ये ही यज्ञ याग धर्म हैं– जिनमें धर्म की सारी विधाओं का समावेश हो जाता है। स्वयं वेद ने उन्हें प्रथम धर्म के रूप में आहत किया है।

©Indira Gandhi National Open University

1. **प्रयोजनवान्** : इन सब तथ्यों से परिचित होते ही महामना महर्षि जैमिनि ने धर्म का उपर्युक्त लक्षणा किया है। फिर भी जैमिनि का यह धर्म सर्वथा अलौकिक होते हुए भी लौकिकता से परे नहीं है। प्रयोजनवान् होना धर्म के लिए आवश्यक है, क्योंकि मीमांसक इस बात से सुपरिचित हैं कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रवृत्ति को कराने के लिए ही धर्म में इष्टसाधनता का प्रयोजन के रूप में होना आवश्यक माना गया है।
2. **वेदबोधिता** : प्रयोजनवत्ता के साथ–साथ धर्म के लिए दूसरी चीज जो आवश्यक समझी गई है– वह है– उसकी वेदबोधितता। यदि वेद–बोधितता को धर्म के साथ सम्बद्ध नहीं किया जायेगा, तो घड़ा और चैत्यवन्दन आदि भी धर्म होने लग जायेंगे, क्योंकि ये सभी प्रयोजन वाले हैं। तीसरा विशेषण जो धर्म के लिये अनिवार्य माना गया है।
3. **अर्थता** : अर्थता अर्थात् उसका अनर्थ के साथ सम्बन्ध न हो। यदि यह विशेषण नहीं लगायेंगे तो श्येन–त्याग आदि कर्म भी धर्म होने लग जायेंगे। संक्षेप में प्रयोजनवान् हो, वेद से विहित हो और अनर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता हो– वही मीमांसकों का धर्म है, जो कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जिसमें सबका समावेश हो जाता है। इसके ठीक विपरीत अधर्म है।

प्रश्न : धर्म के मामले में क्या प्रमाण है?

उत्तर : यह सब कुछ होने पर भी जैमिनि ने धर्म जैसी इस उच्च वस्तु को अंधविश्वास से सर्वथा दूर रखना चाहा और उस जैसे समीक्षा–शास्त्रों के लिये यह आवश्यक भी था। उसने इसी दृष्टि से कहा कि 'इस प्रकार के धर्म के निमित्त को भी परीक्षा करनी चाहिए। सब तरह के प्रमाणों के आधार पर उसे परख कर ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए– अंधनुकरण द्वारा नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण धर्म के लिये भी प्रमाणों की अनिवार्य आवश्यकता हुई। धर्म जैसी इन्द्रियों की सीमा से समपेत वस्तु तक पहुँचने की क्षमता प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन लौकिक प्रमाणों में नही है। मुख्य रूप से विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य ये आठ प्रमाण धर्म में हैं।

धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व

धर्मशास्त्रकारों ने वेदविहित एवं मीमांसा परिशोधित धर्मस्वरूप का प्रतिपादन निर्भीक रूप से किया है। मूल ग्रंथकार तो केवल मीमांतित्वा, मीमांसन्ते आदि शब्दों का प्रयोग कर चलते बने। किन्तु टीकाकारों ने मीमांसा का उपयोग अथवा स्पष्टीकरण यत्र–तत्र किया। श्रौतकर्मो के प्रतिपादन में किसी भी ऐसे धर्म का विधान नहीं किया गया जो मीमांसा के विरूद्ध हो। कहीं–कहीं मीमांसान्याय का स्पष्ट प्रतिपादन भी किया गया है, जैसे जीमूत–वाहन–कृत दाय भाग में द्वयोः प्रणयन्ति अधिकरण का उल्लेख मिलता है। तथापि मूल ग्रन्थकारों की अपेक्षा व्याख्याकारों ने मीमांसा का उपयोग अधिक किया है।[6] मदनरत्न में निर्दिष्ट भविष्यपुराण में बतलाया गया है– क्षमा, सत्य भाषण, दया, दान, स्वच्छता, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोम, सन्तोष, चोरी न करना ये दस धर्म सामान्यतः सभी व्रतों के लिए है। इस पर वर्धमान का कहना है कि उपर्युक्त सभी शब्द से भविष्यपुराणोक्त व्रतों को ही समझना चाहिए। अन्य व्रतों में यदि होम का विधान हो तो उसे करे न हो तो न करे। यही कारण है कि एकादशीव्रत में शिष्ट लोग हवन नहीं करते। इस पर कमलाकरभट्ट सभी शब्द का

[6] अ0 11, परि0 5, खं0 16, पृ0 310, जी0 वा0 दा0 प्रसन्न कुमार ठाकुर संपादित, कलकत्ता शक 1785

©Indira Gandhi National Open University

रहस्योद्घाटन वाक्य किसी प्रकरण में पठित नहीं है, तब जिन पशुयाग, मित्रविन्दादि इष्टियों के प्रकरण में पठित सप्तदशसामिधेनी बोधक वाक्य हों, उनके साथ एकवाक्यता को पा लेने से पशुयाग प्रकरण के सप्तदश सामिधेनी के वाक्यों से उपर्युक्त प्रकरणरहित सामिधेनी वाक्य का उपसंहार कर लिया जाता है, वैसे ही विशेष व्रत में बतलाये गये होमविधायक वाक्यों से इस वाक्य का भी उपसंहार (संकोच) किया गया है। अतः वर्धमान का कथन ठीक नहीं। इसी सामिधेन्यधिकरण (मी0 3/6/2) का व्यावहारिक धर्म में महत्त्वपूर्ण उपयोग इस प्रकार किया जाता है– समाज में प्रायः देखते है कि लोग वसीयतनामा लिख जाते हैं। एक पुरूष जिसके दो नाबालिग पुत्र हो वह लिखता है कि मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरी स्थावर सम्पत्ति की मालिक मेरी स्त्री होगी और जब लड़के बालिग हो जायेगे तो यही उसके मालिक रहेगे। इस लेख में स्त्री को मालिक बतलाया गया है। इससे सन्देह होता है कि क्या स्त्री उस धन की वास्तव में मालिक अर्थात् स्वामिनी है? दूसरे शब्दों में क्या वह स्त्री उस सम्पत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार विक्रय कर सकती है? शास्त्र में तो स्त्री को स्थावर धन के विक्रय का अधिकार नहीं है। तो क्या इस लेख में मालिक कहे जाने के आधार पर वह शास्त्रीय नियम का उल्लंघन कर सकती है? इस प्रकार का सन्देह होने पर यहाँ मीमांसा के अनुसार यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि स्त्री को मालिक कहने का अभिप्राय यह है कि तब तक लड़के बालिग न हो जायें, वह स्थावर सम्पत्ति की देखरेख यानी पूरी तरह से रक्षा करे। दूसरे शब्दों में भाव यह है कि स्त्री के साथ मालिक शब्द का अभिप्राय मैनेजर (प्रबन्धकर्त्री) से है, और लड़कों के लिए मालिक शब्द का अर्थ स्वत्वाधिकारी अर्थात् स्वामी है। एक स्थान में मालिक शब्द अपने पूर्ण अर्थ का बोध कराता है, तेा दूसरे में उसका अर्थ प्रकरण तथा शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार संकुचित किया गया है। यदि दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

दूसरा उदाहरण पृथ्वीचन्द्रोदय में उद्धृत अग्निपुराण के व्रत प्रकरण में है विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् यहाँ विप्राः शब्द में यदि एकशेष समास करें तो विप्रस्त्रियां और विप्रपुरूष दोनों समझ लिये जा सकते हैं, किन्तु बिना प्रमाण के वह भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपद कुर्यात् बहुभ्यो यजमानेभ्यः अर्थात् दो यजमान अथवा बहुत यजमान प्रतिपत् (शस्त्र नामक ऋचाओं मे पहली ऋचा) को करे। यहाँ द्वित्व या बहुत्व का सम्पादन यजमान और उसकी स्त्री को लेकर नहीं किया जाता ऐसा आचार्य मीमांसाकार एवं महामीमांसक पार्थसारथि का भी कहना है। इसी प्रकार ब्राह्मणान् भोजयेत वाक्य में ब्राह्मण शब्द में श्रुत बहुवचन का अन्वय ब्राह्मण के ही साथ होता है, भोजन के साथ नहीं। अतः एक ही ब्राह्मण को बार–बार भोजन कराने से संकल्पित अनेक ब्राह्मण भोजन का सम्पादन होना नहीं कहा जाता यह सिद्धान्त किया है।

मीमांसारहित धर्मशास्त्र के भावों का ज्ञान उसी तरह है, जैसे बिना साधन की इष्ट–प्राप्ति। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें बहुधा आया करती हैं जिनकी व्यवस्था मीमांसा की सहायता से ही हो सकती है। अतएव मीमांसा को एक प्रकार से व्याख्या के नियम लाज आफ इण्टरप्रिटेशन कह सकते है।

मीमांसा की सर्वव्यापकता

सभी शास्त्रकारों ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिये मीमांसा दर्शन का आश्रय लिया है। पूर्वमीमांसा के व्याख्यासिद्धान्तो का उपयोग व्याकरण आदि शास्त्रों में तो किया ही गया है, साथ ही साथ वेदान्त और धर्मशास्त्रों में धर्मस्वरूप का निरूपण करने के लिये तथा व्यवहारशास्त्र के निरूपण में भी हुआ है। इसके अतिरिक्त वेदों का वास्तविक अर्थ समझ पाने मे मीमांसा दर्शन का ही उपयोग

©Indira Gandhi National Open University

किया जाता है। जैसे वैदिक वाक्यो ंमें कौन से वाक्य विधायक है? कौन से अर्थवादवाक्य है?किन वाक्यो ंका सवार्थ से तात्पर्य है? किन बातों का अन्यत्र तात्पर्य है। कहा वास्तव में निषेध है? कहा निषेध का आभास हो रहा है? कहा कौन सी विधि है? कहा विधि का आभास हो रहा है? इन सबका ज्ञान मीमांसा दर्शन को जाने बिना नहीं हो सकता। वैदिक तथा स्मृति के वचनों को अन्यथा समझने तथा इनके द्वारा आदेशित कर्मों का अन्यथा अनुष्ठान करने में महान् दोष होतो है, इसे अनेक ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। वेद में प्रतिपादित स्तुति निदांत्मक वाक्यों में विभक्ति प्रत्ययों की तुल्यता रहने पर भी उनके स्वार्थ–परार्थपरता को हेतु या विधि के आभासों को मीमासां ही पहचान पाता है। इस प्रकार धर्मवाद की रक्षा के साथ साथ ही लोकमर्यादा का संरक्षण उसका दृढ़िकरण, देवता सन्तर्पण आदि में मीमांसा दर्शन का उपयोग होने से इसकी सर्वव्यापकता स्वतः सिद्ध है। मीमांसा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीति सभा द्वारा स्थापित विधान नहीं है बल्कि यह धर्म (धार्मिक कृत्य एवं उससे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है। धर्म ज्ञान का मूल वेद है तथा मीमांसा वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया (इति कर्तव्यता तथाउनके सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यक्त स्थित करना) वेद नित्य है, स्वयंभू है, यही धार्मिक विषयों का विवेचन करता है, वैदिक शब्दों के आशय से ही धर्म व्याख्यायित होता है।

वेदवाक्यों की वास्तविक अभिप्रायों को समझना ही मीमांसा का प्रधान उद्देश्य भले ही हो, किन्तु सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने मीमांसापद्धति का प्रयोग किया है। व्याकरण से लेकर वेदान्त तक मीमांसा का प्रयोग किया गया है। वेदान्त का यह सिद्धान्त कि यज्ञ का फलदाता ईश्वर है। बिना मीमांसा की उपयोगिता के स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार सांख्यदर्शन जब दुःखों से मुक्ति के लिये उपाय बताता है, तो उसे वैदिक उपायों का ही सहारा लेना पड़ता है। योगदर्शन का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'योगः कर्मसुकौशलं' में कर्म की कुशलता मीमांसा ज्ञान पर निर्भर है। यहां तक की चार्वाक दर्शन में भी आत्मा और अनुमान के खण्डन में मीमांसापद्धति का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दींगनाथ के ग्रन्थ बिना मीमांसा दर्शन के उपयोग के सफल अध्ययन नही हो पाते।

इस प्रकार मीमांसा का सम्बन्ध केवल वेद से ही नहीं अपितु लोकव्यवहार में भी प्रयुक्त होता है। क्योंकि मीमांसा द्वारा किया गया गुणदोष विवेचन वाक्य, संरचना के गुणदोष से जुड़ा हुआ है। मीमांसा के वे सिद्धान्त जो न्यायिक व्याख्या में प्रयुक्त होते हैं, उनका स्वरूप जान लेना अपेक्षित होगा। मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्त जो न्यायिक व्याख्या में प्रयुक्त होते है, वे इस प्रकार हैं–

उपस्थित विकल्प की श्रेष्ठता का सिद्धान्त

मीमांसा का एक बहुत प्रसिद्ध सिद्धान्त है जो न्याय व्यवस्था में प्रयोग होता है, जिससे न्यायिक प्रक्रिया में बाधा न उत्पन्न हो और न्याय द्रुतगामी हो और व्यवहारिक हो। इसलिए मौके पर उपस्थित विकल्पों में से ही श्रेष्ठ विकल्प का चयन करते हैं।

वाक्य की विवेचना

मीमांसा शास्त्र में वाक्य के विवेचन हेतु पाँच आधार है, जो निम्नलिखित हैं– 1. विषय, 2. संशय, 3. पूर्वपक्ष, 4. उत्तर पक्ष, 5. निर्णय। ये पाँचों आधार भारतीय विधिशास्त्रीय व्यवस्था का आधार हैं। किसी विषय को जानना उसके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को जानकर उसके संशय का निराकरण करना तथा निर्णयतक पहुँचना यह न्याय की एक स्थापित प्रक्रिया हैं।

©Indira Gandhi National Open University

समाज के हर श्रेणी का धर्म निर्धारण

मीमांसा दर्शन के अनुसार समाज का एक सामाजिक ढांचा होना चाहिए जिससे कर्तव्य निर्वाहन में कोई संदेह न होगा और समाज में द्वन्द्व न होगा फलस्वरूप अराजकता न होगी। यह सिद्धान्त भी भारतीय विधि हेतु एक उपयोगी तत्व है। जिससे एक निर्धारित विधिक ढांचा के निर्माण की प्रेरणा मिलेगी।

निर्धारित याज्ञिक प्रक्रिया, विधि की स्थापित प्रक्रिया

जिस प्रकार विभिन्न यज्ञ की एक स्थापित प्रक्रिया है, विधि की भी एक स्थापित प्रक्रिया होगी, जिससे विधि एक व्यवस्था बन सकेगी।

अतिदेश वाक्य का विधिशास्त्र में प्रयोग

1. एक वस्तु के चरित्र, गुण या विशेषताओं का दूसरे में स्थानान्तरण, सम्प्रेषण या अनुप्रयोग।
2. लेखक के एक ऐसे कथन जो उनके द्वारा वर्णित अन्यत्र से उपयोगी ज्ञान को शामिल करने का अनुमति देता है।
3. नियम, उपदेश, तर्क, सिद्धान्त की पुष्टि का विस्तार करना।

अपूर्व सिद्धान्त का अनुप्रयोग

अपूर्व नामक शक्ति कार्यकारण सिद्धान्त को पुष्ट करती है। इस सिद्धान्त का अनुप्रयोग विधि में न्याय प्रदान करने के लिये किया जाता है। विधिशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त कार्यकारण सिद्धान्त है, जिसकी प्रेरणा अपूर्व नामक सिद्धान्त से पुष्ट होती है। जिस प्रकार से अपूर्व का सिद्धान्त कर्म एवं कर्मफल के मध्य की कड़ी है, वे दोनों को जोड़ती है। इसी प्रकार विधिशास्त्र में भी सार्थक निर्णय पर पहुँचने के लिये अपूर्व सिद्धान्त की प्रेरणा ली जाती है। अधिकतर न्यायाधीश न्याय का अन्तिम निर्णय कुछ समय के लिये सुरक्षित कर लेते हैं।

अधिकरण सिद्धान्त का अनुप्रयोग

मीमांसा में वर्णित वाक्यार्थ की प्रक्रिया विशेषकर वैदिक वाक्यों के अर्थनिर्धारण की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया विधि के अर्थ निर्धारण में भी निम्नवत् अनुप्रयुक्त होती है। **क.** सार्थक्यता (आख्या में वर्णित प्रत्येक शब्द और वाक्य सार्थक है।), **ख.** लाघव (जहां एक नियम पर्याप्त हो, वहां अन्य नियमों को ग्रहण नहीं करना चाहिए।), **ग.** अर्थैकत्व (एक स्थान पर एक ही पद अथवा वाक्य का एक ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए।) **घ.** गुणप्रधान (कुछ नियमों का पालन गुण के आधार पर किया जाता है, जैसे सामान्यजन के लिए प्राणी हिंसा वर्जित है किन्तु क्षत्रिय, राजा तथा सेना इसके अपवाद है।) **ङ.** सामंजस्य (जहां पर भी वैपरित्य दिखाई दें, वहां सामंजस्य का प्रयास करना चाहिए) **च.** विकल्प (जहां पर वैपरिक्य अपरिहार्य हो, वहां पर दोनों विकल्पों में से किसी एक को ग्रहण करना चाहिए।)

मीमांसकों के न्यायों का न्यायालयों के अनेक निर्णयों में समन्वय हुआ है। उनमें से बर्हिन्यायी के एक तथा अतिदेश न्याय के एक सन्दर्भों को उदाहरण के स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। पूर्वापर सम्बन्ध

©Indira Gandhi National Open University

के आधार पर किसी वाक्य का अर्थनिर्धारण ही बर्हिन्याय कहलाता है। मीमांसा के इस सिद्धान्त की संगति सुप्रीम कोर्ट के केस सं0 AIR 1988 SC 2239 [Introduction P. 09] उत्तर प्रदेश के भूदान यज्ञसमिति तथा ब्रिजकिशोर के केस के निर्णय में अवलोकित किया है। सन्दर्भित व्यक्ति एक उद्योगपति है लेकिन उनके पास भूमि नहीं है। वे भूमि हेतु भूदान यज्ञसमिति में आवेदन करते हैं। आवेदन निरस्त होने पर भूमिहीन का अर्थ केवल 'भूमिहीन किसान' निर्धारित कर इस वाद को निरस्त कर देते हैं।

अतिदेशन्याय पर आधारित उत्तराधिकार का निर्णय मीमांसा के अतिदेश सिद्धान्त के आलोक में न्यायालय द्वारा निम्न निर्णय प्रदान किये गये है। मद्रास हाईकोर्ट के फुल बेन्च के सामने का एक केस है इसका सन्दर्भ [I.L.r.41 Mad, 44.dsl] यह कि बिना विवाह किए साथ में रहने वाली रखैल के अवैध पुत्र को कोर्ट ने उपमान प्रमाण के अतिदेश के आधार पर पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रदान कर दिया। न्यायाधीश कुमारस्वामी शास्त्री का यह निर्णय है कि ''मनु तथा याज्ञवल्क्य द्वारा सन्तानरहित व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार के सन्दर्भ में दिये गये निर्णय की समानता के आधार पर यह माना गया है कि मनु तथा याज्ञवल्क्य के निर्णय में पिता का अर्थ वैध पिता न होकर पिता मात्र है। सपिण्ड सम्बन्ध के आधार पर इसलिये दासीपुत्र को उत्तराधिकार दिया गया है।

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत्।

मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिनम्।।

अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहित णां सुतादृते।।[7]

पूर्वमीमांसा की अपेक्षा–उपेक्षा

वेद वाक्यों की व्याख्या होने के कारण मीमांसा को व्याख्यापद्धति भी कहा जाता है। मीमांसा व्याख्यापद्धति का हिन्दू कानून में उपयोग होता है। धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वैदिक तथा स्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वेद तथा स्मृति वाक्यों की व्याख्या के लिये मीमांसा व्याख्यापद्धति का उपयोग किया जाता है। यज्ञ विधि की विवेचना आप मीमांसा पद्धति से कर सकते हैं। मीमांसा दर्शन अपनी व्याख्यापद्धति के द्वारा भारतीय संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है, मीमांसा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीति सभा द्वारा स्थापित विधान नहीं है बल्कि यह धर्म (धार्मिक कृत्य एवं उससे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है। धर्म ज्ञान का मूल वेद है तथा मीमांसा वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया (इति कर्तव्यता तथा उनके सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यक्त स्थित करना) वेद नित्य है, स्वयंभू है, यही धार्मिक विषयों का विवेचन करता है, वैदिक शब्दों के आशय से ही धर्म व्याख्यायित होता है।

किन्तु हम यह देखते हैं कि प्राचीन काल से मीमांसा की उपेक्षा हुई है। बीसवीं शताब्दी का काल जब भारतीय विद्या में नये तरीके से पुनर्जागरण हो रहा था, तब भी मीमांसा दर्शन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, जिसके कारण भारतीय समाज विज्ञान के क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं हुई। भारतीय

[7] मनुस्मृति, व्यवहाराध्याय, 133.134

©Indira Gandhi National Open University

दर्शन के सिरोभाग के रूप में वेदान्तदर्शन का अत्यधिक प्रचार प्रसार हुआ। वेदान्तदर्शन ब्रह्मविद्या तथा आत्मविद्या से मूलतः जुड़ा हुआ है। अतः वेदान्तदर्शन द्वारा वैदिक समाजदर्शन की व्यवहारिक व्याख्या अवरूद्ध हो गई क्योंकि भारतीय समाजदर्शन का आधारभूत सूत्र जहां से हमे प्राप्त होते हैं, उनकी व्याख्या के लिये हमने उनकी व्याख्या सिद्धान्त पर ध्यान नहीं दिया। मीमांसा दर्शन हमें एक सशक्त व्याख्यापद्धति प्रदान करता है, जिसके द्वारा हम एक ऐसे समाज विज्ञान की समझ प्राप्त करते हैं, जिसका आधार तात्विक है। यह बात अलग है कि दर्शनशास्त्र होते हुए भी उसमें आत्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि तत्त्वों की उपेक्षा कर दी गई या इनको गौण बना दिया गया। धर्म या यज्ञ–याग और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मान लिया और प्रमाद तथा अल्प ज्ञानवस यज्ञ–याग की समुचित व्याख्या नही की गई। सकाम कर्म से निष्काम कर्म एवं आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, स्वर्ग से मोक्ष एवं आत्मा का अनुभव श्रेष्ठ है, उसपर ध्यान नही दिया गया। इन्हीं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य ने मीमांसा मत का खण्डन किया। शंकराचार्य द्वारा मीमांसा दर्शन का खण्डन का मूल आशय नहीं ग्रहण किया गया। यदि मीमांसा दर्शन एक हेयदर्शन होता, तो शंकराचार्य ने मीमांसा व्याख्यापद्धति को अपनी शास्त्र रचना में उपयोग क्यों करते? स्वयं शंकाराचार्य ने उपनिषद् वाक्यों के अर्थ गठन में असंख्य बार मीमांसा द्वारा प्रतिपादित अर्थ निधारण के निर्णयों का उपयोग किया गया है। हिन्दुओं के आचार, विचार, नियम, रूढ़ियां, पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि विषयों पर मीमांसा दर्शन में प्रभुत विचार किया है। मीमांसा श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि स्मृतियों का मूल स्रोत है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीमांसा का उपयोग लोकव्यवहार को सुव्यवस्थित बनाये रखते हुए विश्वव्यवस्था में संतुलन बनाये रखा जा सकता है। मनुष्य की धर्म सम्बन्धी आकांक्षाओं के प्रतिपादन में मीमांसा उनके समाधानों की ओर संकेत करते हुए एक उच्चतर जीवन के मार्ग को दर्शाता है। एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में मीमांसा दार्शनिक तत्वों की सूक्ष्म विवेचनाओं में ही सम्मिलित नही रहा बल्कि संसार की गतिविधि को समझ–बूझकर सभी को अधिकारानुसार उसने सुख और उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है। इस रूप में मीमांसा दर्शन का उपयोग और महत्व आज भी बना हुआ है।

©Indira Gandhi National Open University